www.researchvidyapith.com ISSN (Online): 3048-7331

Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal

(International Open Access, Peer-reviewed & Refereed Journal)

(Multidisciplinary, Monthly, Multilanguage)

*** Vol-2* *Issue-6* *June 2025***

भक्ति परंपरा के उदयः सांस्कृतिक कारण

शालीनी कुमारी

शोध छात्रा, इतिहास विभाग, तिलका मांझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर, बिहार

सारांश

भक्ति आंदोलन केवल धार्मिक प्रवृत्ति न होकर एक व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन था, जिसने तत्कालीन समाज की स्थिरता, रूढ़िवादिता, और जातिगत जड़ता को तोड़ने का प्रयास किया। इस आंदोलन के उदय के पीछे अनेक सांस्कृतिक कारक कार्यरत थे, जिनका प्रभाव तत्कालीन सामाजिक संरचना और धार्मिक चेतना पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। प्रथम, भक्ति परंपरा के प्रसार का एक मुख्य कारण ब्राह्मणवादी कर्मकांड की जटिलता थी, जिसने आम जनमानस को धार्मिक जीवन से दूर कर दिया था। ऐसे समय में भक्ति परंपरा ने ईश्वर की उपासना को सरल, भावनात्मक और सर्वसुलभ बनाकर जनसामान्य को एक आध्यात्मिक विकल्प प्रदान किया। द्वितीय, इस कालखंड में मुस्लिम शासन की स्थापना के साथ सामाजिक असुरक्षा, सांस्कृतिक संक्रमण और धार्मिक असमंजस की स्थिति उत्पन्न हुई, जिसके प्रत्युत्तर में भक्ति आंदोलन ने एक आत्मीय, अहिंसक और समावेशी धार्मिक दर्शन प्रस्तुत किया। तृतीय, लोकभाषाओं का विकास भी भक्ति आंदोलन के प्रसार का एक प्रमुख सांस्कृतिक आधार था। कबीर, तुलसी, मीरा, नामदेव, ज्ञानेश्वर जैसे संतों ने अपनी रचनाओं को संस्कृत के बजाय स्थानीय भाषाओं में प्रस्तुत किया, जिससे धार्मिक विचारधारा ग्राम्य और शहरी जनता दोनों के लिए बोधगम्य बनी। इस भाषिक परिवर्तन ने न केवल सांस्कृतिक जागरण को जन्म दिया, बल्कि साहित्य, संगीत और लोककला की अभिव्यक्ति को भी नया स्वरूप प्रदान किया। चतुर्थ, भक्ति आंदोलन ने जाति–व्यवस्था को चुनौती दी और सामाजिक समरसता की भावना को प्रोत्साहित किया। शूद्र, स्त्री, दलित तथा वंचित वर्गों को भी आध्यात्मिक अनुभव और मुक्ति का समान अधिकार दिया गया, जो उस युग की प्रगतिशील विचारधारा का परिचायक था। इस प्रकार, भक्ति परंपरा के उदय के पीछे गूढ़ सांस्कृतिक कारण निहित थे, जो धार्मिक, भाषिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर मध्यकालीन भारत में गहरे परिवर्तन का आधार बने। यह परंपरा एक धार्मिक सुधार आंदोलन होने के साथ–साथ सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भूमिका में भी अग्रणी सिद्ध हुई।

मुख्य– शब्दः भक्ति आंदोलन, सांस्कृतिक परिवर्तन, मध्यकालीन भारत, सामाजिक समरसता, संत परंपरा, भाषिक विकास, धार्मिक सहिष्णुता, लोकभाषा, जाति व्यवस्था।

परिचय

भारत का धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास अत्यंत विविधतापूर्ण रहा है, जिसमें समय–समय पर कई आध्यात्मिक आंदोलनों ने सामाजिक संरचना को प्रभावित किया है। इन्हीं आंदोलनों में भक्ति परंपरा एक ऐसा व्यापक सांस्कृतिक और धार्मिक आंदोलन रहा, जिसने मध्यकालीन भारत की सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना को गहराई से स्पर्श किया। यह परंपरा न केवल एक धार्मिक प्रवृत्ति थी, बल्कि इसके माध्यम से समाज में व्याप्त जातिवाद, धार्मिक कट्टरता, और कर्मकांड की जटिलताओं के विरुद्ध एक वैचारिक प्रतिवाद खड़ा हुआ। यह आंदोलन व्यक्ति और ईश्वर के बीच सीधा संबंध स्थापित करने की वकालत करता था, जिसमें सामाजिक असमानताओं को निरस्त करने की चेतना अंतर्निहित थी। भक्ति आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम मध्यकालीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का विश्लेषण

करें। बारहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक के कालखंड में भारत राजनीतिक अस्थिरता और धार्मिक विघटन के दौर से गुजर रहा था। इस काल में इस्लामी शासन की स्थापना, सामाजिक असुरक्षा, और धार्मिक द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न हुई। ऐसे परिवेश में भक्ति परंपरा ने एक समावेशी धार्मिक दर्शन और सामाजिक संतुलन का मार्ग प्रस्तुत किया। इसमें आध्यात्मिक अनुभव को जाति, वर्ग या लिंग की सीमाओं से मुक्त कर दिया गया, जिससे यह परंपरा लोकजीवन का हिस्सा बन सकी।[1]

भक्ति परंपरा की ऐतिहासिक भूमिका को केवल धार्मिक आंदोलन के रूप में सीमित करना इसके प्रभाव को संकुचित करना होगा। यह परंपरा एक समग्र सामाजिक आंदोलन थी, जिसने धार्मिक समानता, भाषिक लोकतंत्र और सांस्कृतिक समरसता को आधार बनाकर समाज में नए मूल्यों की स्थापना की। इस आंदोलन के प्रमुख संत जैसे संत कबीर, रविदास, नामदेव, तुकाराम, तुलसीदास, मीरा बाई, आदि ने अपने संदेशों में सामाजिक विषमता, जातीय भेदभाव और धार्मिक पाखंड के विरुद्ध आवाज उठाई।

भक्ति परंपरा ने धर्म को जनमानस के निकट लाने के लिए संस्कृत के स्थान पर स्थानीय भाषाओं का प्रयोग किया। इसने भाषाई पुनर्जागरण को जन्म दिया, जिससे हिन्दी, मराठी, अवधी, ब्रज, तेलुगु, कन्नड़ आदि भाषाओं में काव्य की समृद्ध परंपरा विकसित हुई। साथ ही, यह परंपरा भारत की बहुलतावादी संस्कृति को बल देने वाली रही, जिसने हिंदू और मुस्लिम संतों दोनों को एक साझा आध्यात्मिक मंच पर प्रस्तुत किया। उदाहरणस्वरूप, कबीर और बाबा फरीद जैसे संतों ने सूफी और हिंदू विचारों का समन्वय कर सामाजिक एकता का संदेश दिया। भक्ति आंदोलन ने स्त्री चेतना को भी स्वर प्रदान किया। मीराबाई जैसी महिला संतों ने पितृसत्तात्मक समाज में आध्यात्मिक स्वायत्तता की अभिव्यक्ति दी। इसने मध्यकाल में महिला सशक्तिकरण की नींव रखी, जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है।[2]

भक्ति परंपरा के उदय में सांस्कृतिक कारणों की पड़ताल आज के संदर्भ में भी अत्यंत प्रासंगिक है। आज जब समाज धार्मिक असहिष्णुता, जातिगत भेदभाव और सांस्कृतिक विघटन की चुनौतियों से जूझ रहा है, तब भक्ति परंपरा में अंतर्निहित समरसता, सहिष्णुता और समता के मूल्यों की पुनः समीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। यह अध्ययन यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि किस प्रकार भक्ति आंदोलन ने सामाजिक विषमताओं के विरुद्ध जनचेतना का निर्माण किया और कैसे उसकी सांस्कृतिक जड़ों ने जनमानस को प्रभावित किया। शोध का उद्देश्य इस ऐतिहासिक परंपरा के उन सांस्कृतिक पक्षों की विवेचना करना है, जो इसके उदय के लिए उत्तरदायी रहे। साथ ही यह अध्ययन यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि भक्ति परंपरा ने किस प्रकार लोकभाषाओं, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक मूल्यों को प्रभावित किया। इसमें यह भी देखा जाएगा कि कैसे यह परंपरा आज भी सांप्रदायिक सद्भाव और सामाजिक समरसता के लिए प्रेरणा स्रोत बनी हुई है।[3]

प्राचीन भारत में धार्मिक–आध्यात्मिक परंपराएँ

प्राचीन भारत का धार्मिक एवं आध्यात्मिक परिदृश्य अत्यंत समृद्ध और विविधतापूर्ण रहा है। यह परंपरा केवल धार्मिक क्रियाकलापों तक सीमित न होकर मानव जीवन, नैतिकता, आत्मबोध और ब्रह्मबोध की गूढ़ अनुभूतियों से भी सम्बद्ध रही है। वैदिक युग से लेकर उत्तर वैदिक काल, उपनिषदों की ज्ञानमार्गीय परंपरा, और तदुपरांत विकसित हुए सांख्य, योग, बौद्ध तथा जैन दर्शनों तक भारत की आध्यात्मिक चेतना निरंतर विकसित होती रही। इन धार्मिक–दार्शनिक प्रवृत्तियों ने न केवल उस समय के समाज की बौद्धिक चेतना को प्रभावित किया, बल्कि आगे चलकर भक्ति आंदोलन के मूलभूत सांस्कृतिक आधारों को भी आकार दिया। वैदिक काल (1500 ई.पू. से 600 ई.पू.) में भारतीय धार्मिक परंपरा का स्वरूप मुख्यतः यज्ञप्रधान और देवपूजक था। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद में वर्णित देवताओं– इंद्र, वरुण, अग्नि, सोम आदि की स्तुति एवं यज्ञ के माध्यम से उनके आह्वान की परंपरा रही। इस काल में धर्म का केंद्र कर्मकांड था, जिसमें ब्राह्मणों की भूमिका निर्णायक थी। यज्ञों की जटिलता, विधानों की संख्या और पूजा–पद्धतियों की कठिनता ने धार्मिक जीवन को ब्राह्मणों पर निर्भर बना दिया था। समाज में वर्णव्यवस्था और धार्मिक विशेषाधिकारों की स्थापना इसी काल में प्रबल हुई, जिसने धार्मिक अनुभव को साधारण जन से दूर कर दिया।[4] यद्यपि इस काल में धार्मिक आस्था गहन थी, परंतु वह वैयक्तिक आत्मबोध की अपेक्षा सामूहिक देवता–पूजन और लौकिक इच्छाओं की पूर्ति तक सीमित थी। धर्म का मूल उद्देश्य न तो मुक्ति था और न ही आत्मा के साक्षात्कार की खोज, बल्कि धन, संतान, विजय और दीर्घायु जैसी कामनाओं की पूर्ति प्रमुख थी। अतः वैदिक काल की यह कर्मकांड प्रधान धार्मिकता कालांतर में जिज्ञासु आत्माओं के लिए

असंतोष का कारण बनी और एक गहरे दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

उत्तर वैदिक काल में उपनिषदों की रचना ने भारतीय धार्मिक विचारधारा को एक नया मोड़ दिया। यह काल आत्मा, ब्रह्म और मोक्ष की गूढ़ संकल्पनाओं का काल रहा, जिसमें धर्म का उद्देश्य लौकिक सुख की अपेक्षा आध्यात्मिक मोक्ष बन गया। उपनिषदों ने 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'नेति–नेति' जैसे महावाक्यों के माध्यम से आत्मा और ब्रह्म के एकत्व की घोषणा की। इस ज्ञानमार्गीय परंपरा ने चेतना को शरीर से परे एक दिव्य स्वरूप के रूप में परिभाषित किया। उपनिषदों में गुरु–शिष्य परंपरा के माध्यम से ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया, जिससे व्यक्तिगत साधना और आत्म–चिंतन को बल मिला। यह परंपरा कर्मकांड से हटकर आंतरिक ध्यान और चिंतन की ओर उन्मुख थी। उपनिषदों ने पहली बार आत्मा और सृष्टि के मूल कारण को दार्शनिक धरातल पर समझने की दिशा दी। यह दृष्टिकोण बाद में भक्ति परंपरा के उन विचारों में परिणत हुआ, जहाँ व्यक्ति ईश्वर से सीधे जुड़ने का अधिकार प्राप्त करता है, और आंतरिक श्रद्धा को बाह्य यज्ञों से अधिक महत्त्व मिलता है।[5]

वेदों और उपनिषदों की ज्ञानपरंपरा के बाद भारत में अनेक स्वतंत्र दार्शनिक धाराएं विकसित हुईं, जिनमें सांख्य, योग, बौद्ध और जैन दर्शन प्रमुख हैं। सांख्य दर्शन ने जगत और आत्मा के भेद को स्पष्ट करते हुए द्वैतवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसके अनुसार प्रकृति और पुरुष (चेतना) दो स्वतंत्र तत्त्व हैं, और मोक्ष की प्राप्ति प्रकृति से विमुक्त होकर आत्मस्वरूप में स्थित होने से होती है। सांख्य ने कारण–कार्य सिद्धांत, विवेकज्ञान और विवेकख्याति के माध्यम से एक तर्कसम्मत अध्यात्म की नींव रखी। योग दर्शन, विशेषतः पतंजलि का अष्टांगयोग, आत्मसाक्षात्कार की एक वैज्ञानिक पद्धति प्रस्तुत करता है, जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के आठ सोपान आत्मिक अनुशासन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। योग ने अध्यात्म को शरीर, मन और आत्मा के समन्वय के रूप में देखा और साधना के माध्यम से आत्मज्ञान की प्रक्रिया को साध्य माना।[6]

बौद्ध और जैन दर्शन, दोनों ही वैदिक कर्मकांड के प्रति विद्रोहस्वरूप उत्पन्न हुए। बौद्ध धर्म में बुद्ध ने दुःख के कारणों और निवारण की प्रक्रिया पर बल दिया, जबकि जैन धर्म ने अहिंसा, अपरिग्रह और तप को आध्यात्मिक उन्नति का साधन माना। इन दोनों परंपराओं ने व्यक्तिगत प्रयास, नैतिक अनुशासन और संन्यास को महत्व देते हुए समाज में आध्यात्मिक लोकतंत्र की भावना को जागृत किया। इन दर्शनों का सम्मिलित प्रभाव यह रहा कि धार्मिक अनुभव को जनसामान्य के निकट लाया गया। बाह्य अनुष्ठानों की अपेक्षा आंतरिक साधना को अधिक महत्व दिया गया। यही विचार आगे चलकर भक्ति आंदोलन के मूल में गया, जहाँ संत कवियों ने प्रत्यक्ष अनुभूति, साक्षात् प्रेम और समर्पण के मार्ग को आत्मसाक्षात्कार का साधन बताया। प्राचीन भारत की धार्मिक–आध्यात्मिक परंपराएँ अत्यंत विकसित और विचारप्रवण रही हैं। वैदिक युग के कर्मकांडों से लेकर उपनिषदों के आत्मज्ञान तक, और सांख्य, योग, बौद्ध–जैन दर्शनों के आत्मअनुशासन तककृहर चरण ने भारतीय समाज में आध्यात्मिक चेतना को परिष्कृत किया। यह आध्यात्मिक चेतना ही भक्ति आंदोलन के उद्भव की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बनी, जिसमें ईश्वर की अनुभूति एक व्यक्ति विशेष का निजी अनुभव बन गई। इस प्रकार, इन परंपराओं ने भारत में एक ऐसे धार्मिक मानस का निर्माण किया, जो अंतर्मुखी, समावेशी और मानवीय मूल्यों पर आधारित रहा।द्य

भक्ति की प्रारंभिक जड़ें

भारतीय आध्यात्मिक परंपरा में भक्ति केवल एक धार्मिक भावना नहीं, बल्कि आत्मा और परमात्मा के मध्य जीवंत संबंध की अनुभूति रही है। भक्ति की विचारधारा का विकास किसी एक युग या घटना तक सीमित नहीं था, बल्कि यह एक दीर्घकालिक सांस्कृतिक प्रक्रिया थी, जिसकी प्रारंभिक जड़ें भारत के धर्मग्रंथों, लोकपरंपराओं और संत–साहित्य में खोजी जा सकती हैं। यह भक्ति उस बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रतिक्रियात्मक आंदोलन का रूप थी जो कर्मकांड, यज्ञप्रधानता और ब्राह्मणवादी एकाधिकार के विरुद्ध सहजता, प्रेम, और समर्पण की भाषा में उभरी। महाभारत भारतीय महाकाव्य परंपरा का ऐसा ग्रंथ है जो धर्म, नीति, राजनीति और अध्यात्म का समुचित समावेश प्रस्तुत करता है। इसके भीतरी हिस्से में स्थित भगवद्गीता न केवल भक्ति मार्ग का प्रतिपादन करती है, बल्कि उसे ज्ञान और कर्म के समकक्ष, और अनेक स्थलों पर उनसे श्रेष्ठ घोषित करती है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं– 'मन्मना भव मद्भक्तो' अर्थात् 'तू मेरा भक्त बन, मुझमें मन लगा'। यह भक्ति न केवल एक दार्शनिक शास्त्र का विषय है, बल्कि आत्मा की गहनतम पुकार के रूप में प्रस्तुत होती है। यहाँ भक्ति का आशय है पूर्ण आत्मसमर्पण, निर्भय श्रद्धा और ईश्वर में अद्वितीय विश्वास। श्रीमद्भागवत महापुराण तो विशेष रूप से

भक्ति परंपरा का शास्त्रीय आधार प्रस्तुत करता है। इसमें नरोत्तम भक्ति की नौ अवस्थाओं (नवधा भक्ति) का उल्लेख मिलता है– श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, साख्य, और आत्मनिवेदन। भागवत में बालक प्रह्लाद की दृढ़ भक्ति, गजेंद्र मोक्ष की कथा और गोपियों की आत्मविस्मृत प्रेमभक्ति को ईश्वर के प्रति परम समर्पण का प्रतीक बताया गया है। यही भाव आगे चलकर उत्तर और दक्षिण भारत की भक्ति परंपरा के मूल स्तम्भ बने। पुराणों में शिव, विष्णु, देवी आदि के प्रति जिस प्रकार की भक्ति वर्णित है, वह केवल पूजा–अर्चना नहीं बल्कि आत्मा की पुकार है। लिंगपुराण, स्कंदपुराण, नारद पुराण जैसे ग्रंथों में भक्ति की साधना को लौकिक लाभ से ऊपर बताया गया है।[8] यहाँ भक्ति को मोक्ष तक की यात्रा का सर्वोत्तम मार्ग बताया गया।

दक्षिण भारत विशेष रूप से तमिलनाडु की आलवार और नायनार परंपरा को भक्ति आंदोलन की प्रारंभिक वाहक के रूप में देखा जाता है। 6वीं से 9वीं शताब्दी के मध्य इन संतों ने मंदिरों, राजदरबारों और आम जनता के मध्य जो आध्यात्मिक क्रांति फैलाई, उसका प्रभाव संपूर्ण भारत पर पड़ा। आलवार संत विष्णु के उपासक थे, जबकि नायनार संत शिव के अनन्य भक्त। इन दोनों धाराओं ने जातिगत भेदभाव को नकारते हुए भक्ति को सभी के लिए उपलब्ध कर दिया।[9] आलवार संतों में नम्मालवार, पेरियालवार, आंडाल आदि के पदों में प्रेम और भक्ति की ऐसी अभिव्यक्ति मिलती है जो उस समय की ब्राह्मणवादी रूढ़ियों के विरुद्ध सहज समर्पण की वाणी बन गई। आंडाल, जो एक महिला संत थीं, ने श्रीरंगनाथ के प्रति जो भावपूर्ण गीत रचे, वे आज भी भक्ति साहित्य की धरोहर हैं। इसी प्रकार नायनार संत, जैसे– तिरुनावुक्कारसर, तिरुग्नानसम्बंदर और सुंदरत, ने अपने काव्य में शिव को पिता, सखा और गुरु के रूप में अनुभव किया। उनके भजनों में भक्ति को आत्मस्वरूप के साथ एकाकार कर दिया गया। यह संत परंपरा धार्मिक लोकतंत्र की पहली प्रतीक बनी। इन्होंने भक्ति को केवल संन्यासियों या ब्राह्मणों तक सीमित न रखकर सामान्य जनता, स्त्रियों और निम्न जातियों तक पहुँचाया। यही विशेषता आगे चलकर उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन की प्रेरणा बनी।[10]

प्रारंभिक भक्ति परंपरा की सबसे गहरी और स्थायी विशेषता यह रही कि इसमें ईश्वर से संबंध व्यक्तिगत और आत्मिक स्तर पर स्थापित किया गया। यहाँ न तो कोई मध्यस्थ आवश्यक था, न ही कोई विशेष संस्कार या दीक्षा। यह परंपरा कहती है कि प्रेम और समर्पण ही ईश्वर तक पहुँचने का साधन हैं। भक्त और ईश्वर के संबंध को सामान्य सांसारिक संबंधों कृ जैसे सखा, प्रियतम, माता–पिता, सेवक आदि, के प्रतीकों के माध्यम से समझाया गया। श्रीमद्भागवत में गोपियों की कृष्ण के प्रति भक्ति और मीरा बाई की श्रीकृष्ण के प्रति आत्मसमर्पित भावना इसी दिशा की अगुवाई करते हैं। यह भक्ति केवल गान या अर्चन नहीं, बल्कि चेतना की उस दशा का नाम है जहाँ व्यक्ति अपने अस्तित्व को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है। इस परंपरा में न तो जाति की बाधा थी, न ही स्त्री–पुरुष में भेद। एक चर्मकार रविदास, एक गृहस्थ सूरदास, एक राजकुमारी मीरा और एक सूफी संत कबीर कृ सभी इस प्रेम–भक्ति के मार्ग पर समान रूप से चल पड़े। व्यक्तिगत भक्ति की यह अवधारणा सामाजिक क्रांति का भी माध्यम बनी। इसमें धर्म और समाज के कठोर अनुशासनों की अपेक्षा करुणा, सहिष्णुता और प्रेम को प्रधानता दी गई। इसने न केवल आध्यात्मिक चेतना को विकेंद्रीकृत किया, बल्कि सामाजिक समरसता को भी जन्म दिया। भक्ति परंपरा की प्रारंभिक जड़ें भारतीय संस्कृति की गहराई में विद्यमान रही हैं। महाभारत, भागवत और पुराणों से लेकर तमिल संत परंपरा तक, और व्यक्तिगत ईश्वर प्रेम की संकल्पना तक, इस परंपरा ने सदियों से सांस्कृतिक चेतना को पोषित किया है। यह परंपरा न केवल धार्मिक क्रांति थी, बल्कि सामाजिक चेतना का पुनर्जागरण भी थी। इसमें प्रेम, समर्पण और आत्मिक अनुभव के माध्यम से आध्यात्मिक स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त हुआ, जिसने आगे चलकर अखिल भारतीय भक्ति आंदोलन की ठोस नींव रखी।[11]

भक्ति परंपरा के उदय में सांस्कृतिक कारण

साहित्यिक कारण– भारतीय समाज की धार्मिक चेतना के इतिहास में भक्ति परंपरा का उदय न केवल आध्यात्मिक चेतना का विस्तार था, बल्कि यह साहित्यिक दृष्टि से भी एक क्रांतिकारी चरण सिद्ध हुआ। भक्ति आंदोलन का उद्भव ऐसे समय में हुआ जब समाज कर्मकांडों, जातिगत असमानताओं और धार्मिक कट्टरताओं से जूझ रहा था। इसी दौर में साहित्य एक सशक्त माध्यम के रूप में उभरा, जिसने जनसामान्य की आत्मा को स्पर्श किया।[12] इस साहित्यिक आंदोलन में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय रहीं– एक, संस्कृत के स्थान पर क्षेत्रीय भाषाओं का उभार और दो, काव्यधारा में भावुकता एवं सरलता की प्रधानता। इन दोनों प्रवृत्तियों ने न केवल भक्ति काव्य को लोकमानस तक पहुँचाया, बल्कि एक सघन सांस्कृतिक परिवर्तन की नींव भी रखी। मध्यकालीन भारत के सामाजिक परिदृश्य में संस्कृत भाषा लंबे समय तक धार्मिक और साहित्यिक अभिव्यक्ति का

प्रमुख माध्यम रही। यद्यपि संस्कृत ने भारतीय ज्ञान परंपरा को समृद्ध किया, लेकिन इसकी जटिलता, उच्चारण की कठिनता और सीमित साक्षरता के कारण यह आमजन की पहुँच से दूर हो गई। इसके विपरीत, क्षेत्रीय भाषाएँ जैसे हिंदी, मराठी, बांग्ला, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और उर्दू जनभाषा के रूप में तेजी से उभरने लगीं। भक्ति संतों ने इस भाषाई परिवर्तन को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर भक्ति साहित्य को जनसाधारण के निकट ला दिया।

उत्तर भारत में कबीर, तुलसीदास, सूरदास, मीरा बाई जैसे संतों ने ब्रज, अवधी और खड़ी बोली में रचनाएँ कर धार्मिक अनुभव को सरल भाषा में अभिव्यक्त किया। दक्षिण भारत में आलवार और नायनार संतों ने तमिल भाषा को भक्ति काव्य का माध्यम बनाकर स्थानीय लोकजीवन और धार्मिक चेतना को एकसूत्र में बाँधा। यह भाषाई बदलाव केवल साहित्यिक न होकर सामाजिक भी था, जिसने धर्म को शास्त्रों और पुरोहितों की सीमाओं से निकालकर सामान्य जन की भावना से जोड़ दिया। इस भाषाई परिवर्तन ने एक ओर सामाजिक समरसता को बल दिया, तो दूसरी ओर भाषाओं के विकास और साहित्यिक स्वतंत्रता को भी गति दी। क्षेत्रीय भाषाओं में रचे गए भक्ति साहित्य ने धार्मिक संदेश को जन–जन तक पहुँचाया और भारतीय भाषाओं को रचनात्मक परिपक्वता के नए स्तर तक पहुँचाया।

भक्ति आंदोलन के साहित्य की दूसरी विशेषता थी उसमें समाहित अत्यंत भावनात्मकता और भाषायी सरलता। यह साहित्य किसी दार्शनिक तर्क या यांत्रिक विधान पर आधारित नहीं था, बल्कि यह हृदय की सहज पुकार और ईश्वर के प्रति आत्मीय संवाद का स्वर था। इस भावुकता ने साहित्य को केवल बौद्धिक नहीं रहने दिया, बल्कि उसमें आत्मा की गहराइयों को स्पर्श करने की शक्ति भर दी। भक्ति काव्य में रचनाकार और ईश्वर के संबंध को मित्रता, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य के रूप में चित्रित किया गया। सूरदास की बालकृष्ण के प्रति वात्सल्य भक्ति, तुलसीदास की मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के प्रति दास्य भावना, कबीर की निर्गुण ईश्वर के साथ तर्क और समर्पण की भावना इन सबमें वह गहन भावप्रवणता दिखाई देती है, जो पाठक या श्रोता को भीतर तक आंदोलित कर देती है। भक्ति काव्य की सबसे बड़ी शक्ति उसकी सहजता और स्वाभाविकता में निहित रही। इसमें न तो अलंकारों की अधिकता थी और न ही काव्यशास्त्रीय जटिलताएँ। इसका उद्देश्य सौंदर्य का बोध कराना नहीं था, बल्कि ईश्वर के प्रति प्रेम और आस्था को अभिव्यक्त करना था। इस शैली ने साहित्य को केवल विद्वानों के बौद्धिक विमर्श से निकालकर जनभावनाओं का संवाहक बना दिया।

भक्ति काव्य ने पहली बार साहित्य को भावनाओं का माध्यम बनाकर यह स्थापित किया कि धार्मिक चेतना केवल मंदिरों और यज्ञों में नहीं, बल्कि आम जन के गीतों, कहावतों और काव्य की पंक्तियों में भी जीवित रहती है। यह भावनात्मक साहित्य समाज के उस वर्ग तक पहुँचा जिसे अब तक धार्मिक विमर्श से बहिष्कृत माना जाता था। भक्ति साहित्य ने भारतीय संस्कृति को यह सिखाया कि प्रेम, समर्पण और भाव ही वह शक्ति है जो आत्मा को ईश्वर से जोड़ सकती है। भक्ति परंपरा के उदय में साहित्यिक कारणों की भूमिका निर्णायक रही। संस्कृत के स्थान पर क्षेत्रीय भाषाओं का आगमन और काव्यशैली में भावनात्मकता एवं सरलता की प्रवृत्ति ने भक्ति आंदोलन को जन–जन का आंदोलन बना दिया। यह न केवल धार्मिक विचारधारा का विस्तार था, बल्कि भारतीय साहित्य के विकास में भी एक ऐतिहासिक मोड़ सिद्ध हुआ। इस परंपरा ने साहित्य को लोकमानस का दर्पण बनाया और भावनाओं को आध्यात्मिक ऊँचाई दी, जिससे भारतीय सांस्कृतिक चेतना को एक नई दिशा मिली।

संगीत और नाट्य का योगदान– भारतीय भक्ति परंपरा के उदय में जहाँ दार्शनिक, सामाजिक एवं भाषाई कारकों की भूमिका प्रमुख रही, वहीं संगीत और नाट्य कला का योगदान भी उतना ही गहन और प्रभावकारी रहा है। संगीत और नाट्य भारतीय संस्कृति में केवल कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक अनुभूति के साधन रहे हैं। भक्ति आंदोलन की विशिष्टता ही यह थी कि उसने धर्म और संस्कृति को सामान्य जनमानस के निकट लाने के लिए इन कलाओं को सशक्त माध्यम बनाया। भजन, कीर्तन, लोकगायन, मंदिरों के अनुष्ठानिक नृत्य और संगीत ने न केवल धार्मिक विचारों को जन–जन तक पहुँचाया, बल्कि उन्होंने धार्मिक साधना को श्रव्य और दृश्य रूप में आत्मा से जोड़ने का मार्ग प्रशस्त किया। भक्ति आंदोलन के प्रसार में कीर्तन, भजन और लोकगायन ने एक सशक्त सांस्कृतिक उपकरण के रूप में कार्य किया। विशेष रूप से महाराष्ट्र, बंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाब और दक्षिण भारत में कीर्तन मंडलियों, संतों और गायक समुदायों ने धार्मिक संदेश को संगीत के माध्यम से जनसामान्य तक पहुँचाया। यह माध्यम न केवल सुलभ था, बल्कि सामूहिक भी था, जिससे एक साथ सैकड़ों–हजारों लोग भक्ति के वातावरण में एकाकार हो जाते थे।

महाराष्ट्र के संत नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि की कीर्तन परंपरा ने मराठी समाज को एक गहरे आध्यात्मिक भाव से जोड़ा। उनके पदों को गाकर लोग धार्मिक अनुभव करते थे, और यही गेयता उन्हें गहराई तक प्रभावित करती थी। बंगाल में चौतन्य महाप्रभु ने 'नाम–संकीर्तन' को भक्ति का सर्वोत्तम माध्यम माना और हरिनाम संकीर्तन के द्वारा वैष्णव धर्म को एक सामाजिक आंदोलन में परिवर्तित कर दिया। यह संकीर्तन केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं था, बल्कि भावविभोर होकर भगवान के नाम का उच्चारण करते हुए भक्ति की एक जीवंत अनुभूति बन गया था। उत्तर भारत में तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई आदि ने अपनी रचनाओं को गेय बनाकर जनश्रुति का हिस्सा बनाया। लोकभाषाओं में रचित यह काव्य भजन के रूप में मंदिरों, मेलों और गाँवों की गलियों में गाया जाता रहा। इसने न केवल धर्म को कंठस्थ बनाया, बल्कि समाज के हर वर्ग शूद्र, महिला, कृषक, व्यापारी आदिकृको भक्ति मार्ग से जोड़ दिया।

भारतीय मंदिर स्थापत्य और वहाँ संपन्न होने वाले अनुष्ठानों में संगीत और नृत्य का विशिष्ट स्थान रहा है। विशेषकर दक्षिण भारत के मंदिरों में देवदासी परंपरा के अंतर्गत प्रस्तुत किए जाने वाले भरतनाट्यम और ओडिसी जैसे शास्त्रीय नृत्य, केवल मनोरंजन नहीं बल्कि आध्यात्मिक समर्पण के साधन माने जाते थे। इन नृत्य रूपों में भगवान की लीलाओं, भावों और रूपों का चित्रण अत्यंत संवेदी ढंग से किया जाता रहा है। भरतनाट्यम, जो तमिलनाडु के मंदिरों में देवदासियों द्वारा अर्पित किया जाता था, उसे देव आराधना का स्वरूप माना गया। इसमें नृत्य के माध्यम से नायक–नायिका भाव, भक्ति, क्रोध, प्रेम और विरह जैसे भावों के द्वारा आत्मा और परमात्मा के संबंध को प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत किया जाता है। संगीत की ताल, राग और लय इन भावनाओं को सजीव कर देती थीं। यही कारण है कि इन नृत्यों को श्नृत्त–सेवाश की संज्ञा दी गई। कर्नाटक संगीत की परंपरा भी भक्ति परंपरा से गहराई से जुड़ी रही। त्यागराज, मुथुस्वामी दीक्षितर और श्याम शास्त्री जैसे त्रिमूर्ति संगीतज्ञों ने अपने रचनात्मक योगदान से भक्ति को सुरों के माध्यम से साकार किया। उनके गीत, विशेष रूप से रघुनाथ, श्रीराम और शिव के प्रति रचित, न केवल गायन के लिए थे, बल्कि आत्मा की आराधना बन गए। उत्तर भारत में रासलीला और रामलीला जैसे नाट्य रूपों ने भी संगीत और नाट्य के माध्यम से भक्ति का प्रचार किया। वृंदावन, मथुरा और अयोध्या में इन लीला–प्रस्तुतियों ने भक्ति को द्रष्टव्य और अनुभवगम्य बनाया। इनके माध्यम से ईश्वर की लीलाओं को नाट्यरूप में प्रस्तुत कर आमजन को भक्ति का स्पर्श प्रदान किया गया। दर्शक केवल दर्शक नहीं रहते थे, बल्कि वे उस अनुभव का हिस्सा बन जाते थे।[13]

लोक संस्कृति और परंपराएं– भारतीय समाज की धार्मिक चेतना का विकास केवल दार्शनिक और ग्रंथ–सिद्ध परंपराओं के माध्यम से नहीं हुआ, बल्कि इसमें लोक संस्कृति और जनमानस की परंपराओं की भूमिका भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है। विशेष रूप से ग्रामीण भारत में धार्मिक जीवन का स्वरूप अत्यंत जीवंत, सामूहिक और भावनात्मक रहा है। यहाँ धार्मिक आस्था किसी ग्रंथ या शास्त्र से नहीं, बल्कि आंचलिक देवी–देवताओं, ग्राम–परंपराओं, मेलों और उत्सवों की परंपरा से संचालित होती रही है। यह लोक संस्कृति ही वह आधार बनी, जिसने भक्ति आंदोलन को जमीन दी, उसकी भाषा को जनभाषा बनाया और उसके संदेश को जनजन तक पहुँचाया। भारत का ग्रामीण जीवन धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का जीवंत केंद्र रहा है। यहाँ के धार्मिक उत्सव और मेले केवल पूजा–अनुष्ठानों तक सीमित नहीं होते, बल्कि ये सामाजिक मिलन, सामूहिक भक्ति और सांस्कृतिक आदान–प्रदान के अवसर भी होते हैं। भक्ति परंपरा के प्रसार में इन उत्सवों ने आधारभूत भूमिका निभाई है। फाल्गुन, चौत्र और कार्तिक जैसे महीनों में होने वाले गंगा स्नान, कावड़ यात्रा, रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी, छठ पूजा, और दशहरा जैसे पर्वों के माध्यम से लोकसमूह एकत्र होता रहा और भक्ति भावना का सामूहिक अनुभव करता रहा।

इन मेलों में लोकगीत, भजन, कीर्तन, नाटक और रासलीला के माध्यम से धार्मिक कथाओं को जनमानस तक पहुँचाया जाता रहा। मंदिरों के प्रांगण, नदी तट, तालाबों के किनारे या गाँव के खुले चौपालों में जनसमूह भक्ति से ओतप्रोत होकर अपने आराध्य का स्मरण करता था। इन धार्मिक आयोजनों की विशेषता यह थी कि इनमें जाति, लिंग, भाषा या वर्ग की कोई बाधा नहीं थी। हर कोई अपनी श्रद्धा और भावना के साथ सहभागी बनता था।

विशेष रूप से उत्तर भारत में रामलीला, झूला महोत्सव, और कव्वाली–संध्याएँ भक्ति को अभिव्यक्त करने के सशक्त माध्यम बने। वहीं दक्षिण भारत में तेर, थाय्यम, कोलम और जत्रा जैसे उत्सवों में स्थानीय लोक देवताओं की झांकियाँ, गान और नाट्य प्रस्तुतियाँ भक्ति के रंगों में रची–बसी रहती थीं। ये सभी लोक आयोजन केवल

मनोरंजन के साधन नहीं थे, बल्कि वे ग्रामीण जीवन के धार्मिक मनोभावों को पोषित करने वाले महत्वपूर्ण मंच थे। भारतीय लोकजीवन में एक विशेष प्रवृत्ति यह रही है कि प्रत्येक क्षेत्र, गाँव और समुदाय के अपने–अपने संरक्षक देवी–देवता होते हैं। ये लोकदेवता ग्रामीण जीवन के संकटों, आवश्यकताओं और अनुभवों से जुड़े होते हैं, और इन्हीं के माध्यम से धर्म जनमानस की चेतना का हिस्सा बनता है। उत्तर भारत में शीतला माता, भैरो बाबा, गौरी माता, और सहस्त्र नामों से पूजे जाने वाले ग्राम्य देवता हों या फिर दक्षिण भारत में मरियम्मा, ऐयप्पा, करुप्पसामी, और पोल्लाथवन जैसे लोकदेवताकृसभी ने ग्रामवासियों की श्रद्धा और भक्ति को संजोए रखा है। इन आंचलिक देवताओं की पूजा–पद्धति सरल, सहज और लोकानुरूप होती थी। न कोई जटिल मंत्र, न भारी कर्मकांड। एक मिट्टी की मूर्ति, कुछ फूल, दीपक, और भक्त की भावना ही पर्याप्त मानी जाती थी। यही सहजता भक्ति परंपरा की उस अवधारणा से मेल खाती थी जिसमें ईश्वर तक पहुँचने का माध्यम हृदय की श्रद्धा को माना गया।

लोकदेवताओं के प्रति श्रद्धा केवल धार्मिक नहीं थी, वह सामाजिक संरचना से भी जुड़ी थी। गाँव का प्रत्येक वर्ग इन देवताओं की पूजा में सहभागी होता था। गाँव की स्त्रियाँ विशेष रूप से लोकदेवियों की आराधना में अग्रणी रहती थीं, जिससे महिलाओं को धार्मिक नेतृत्व का स्थान भी प्राप्त हुआ। इस प्रक्रिया ने भक्ति परंपरा में लिंग–समता और सामाजिक समरसता के तत्वों को भी बल दिया। इन आंचलिक देवताओं की कथाएँ, गाथाएँ और लोकगीतों के माध्यम से भक्ति का भाव पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित होता रहा। इन गाथाओं ने न केवल भक्ति भावना को जीवंत बनाए रखा, बल्कि उन्होंने उस सांस्कृतिक विरासत को भी संरक्षित किया जो पुस्तकीय नहीं, बल्कि अनुभवजन्य और परंपरागत थी।

मूर्ति पूजा और मंदिर संस्कृति– भारतीय संस्कृति में धार्मिक चेतना का विकास एक सतत प्रक्रिया रही है, जिसमें लोक परंपराओं, दार्शनिक चिंतन, धार्मिक आंदोलन और सामाजिक परिस्थितियों ने समवेत रूप से योगदान दिया। इसी क्रम में भक्ति आंदोलन का उदय हुआ, जो न केवल धार्मिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण था, बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तन का भी वाहक बना। इस आंदोलन की जड़ें उस परंपरा में भी निहित हैं, जिसने मूर्तिपूजा और मंदिर संस्कृति के माध्यम से धर्म को ठोस, दृश्य और लोकानुकूल स्वरूप प्रदान किया। मूर्तियों के माध्यम से ईश्वर को साकार रूप में देखने और मंदिरों के माध्यम से सामुदायिक एकता स्थापित करने की प्रक्रिया ने भक्ति को जनमानस का विषय बनाया।

प्राचीन भारत में मंदिर केवल पूजा–अर्चना के स्थान नहीं थे, बल्कि वे सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन के केंद्र बन चुके थे। विशेष रूप से गुप्त, चालुक्य, पल्लव, चोल और राष्ट्रकूट जैसे राजवंशों के काल में विशाल मंदिरों का निर्माण हुआ, जो स्थापत्य की दृष्टि से जितने भव्य थे, उतने ही सामुदायिक जीवन के लिए उपयोगी भी थे। इन मंदिरों में केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं होते थे, बल्कि वे शिक्षा, संगीत, नाट्य, शिल्पकला और दान की गतिविधियों के केंद्र थे। यहाँ पर ग्रामसभा की बैठकें होती थीं, यात्राएँ निकलती थीं और सामाजिक न्याय के निर्णय भी लिए जाते थे।

मंदिरों ने धार्मिक भावना को केवल व्यक्तिगत साधना तक सीमित न रखकर उसे सामूहिक चेतना में परिवर्तित किया। जब लोग एकत्र होकर आरती, भजन, कथा, प्रवचन और उत्सवों में सम्मिलित होते थे, तो वहाँ एक ऐसी सांस्कृतिक एकता निर्मित होती थी, जो जातिगत और वर्गीय भेदभाव से ऊपर उठकर कार्य करती थी। इस एकता ने भक्ति आंदोलन को वह आधारभूत जनसमर्थन प्रदान किया, जिससे यह आंदोलन केवल शास्त्रीय विमर्श तक सीमित न रहकर लोक चेतना में परिवर्तित हो सका। दक्षिण भारत के मीनाक्षी मंदिर (मदुरै), बृहदेश्वर मंदिर (थंजावुर), और उत्तर भारत के काशी विश्वनाथ, पुरी का जगन्नाथ मंदिर, मथुरा–वृंदावन के कृष्ण मंदिरकृइन सभी ने न केवल धार्मिक स्थल के रूप में कार्य किया, बल्कि हजारों तीर्थयात्रियों और भक्तों के सामूहिक जीवन का हिस्सा बनकर भक्ति की चेतना को पुष्ट किया।

मूर्ति पूजा भारतीय धार्मिक परंपरा का एक ऐसा आयाम है जिसने अमूर्त ईश्वर को मूर्त रूप में देखकर भक्त और ईश्वर के बीच सजीव संबंध स्थापित किया। इसने धार्मिक अनुभूति को केवल ध्यान, योग या वेदांत जैसे अमूर्त तरीकों तक सीमित न रखकर उसे साकार और प्रत्यक्ष बना दिया। मूर्तिपूजा की इस परंपरा में भगवान को माता, पिता, मित्र, प्रेमी या स्वामी के रूप में देखा गया और उनसे गहरे भावनात्मक संबंध स्थापित किए गए। भक्ति साहित्य में यह भाव कई रूपों में अभिव्यक्त होता है।

मीरा के लिए कृष्ण प्रियतम हैं, तुलसी के लिए राम मर्यादा के आदर्श, और सूरदास के लिए बालकृष्ण वात्सल्य का स्रोत। ये भाव मूर्तिपूजा को केवल एक कर्मकांड न बनाकर भाव–प्रधान संवाद में परिवर्तित कर देते हैं। जब भक्त मूर्ति के समक्ष दीपक जलाता है, भोग अर्पित करता है, तो वह केवल प्रतीकात्मक क्रिया नहीं करता, बल्कि यह उसके भावात्मक जुड़ाव और आत्मीय संबंध का प्रकट रूप होता है।

मूर्तिपूजा ने अनपढ़, ग्रामीण और सामान्य जन के लिए ईश्वर की अवधारणा को सुलभ और बोधगम्य बना दिया। जिन्हें वेद, उपनिषद, या दर्शन के गूढ़ सिद्धांत समझना कठिन था, उनके लिए मंदिर की मूर्ति और उसमें प्रतिष्ठित ईश्वर ही भक्ति का प्रत्यक्ष आधार बने। यह मूर्ति कोई निराकार सैद्धांतिक सत्ता नहीं, बल्कि "जीवत्स्वरूप" थी, जिससे भक्त संवाद करता, दुख कहता, धन्यवाद देता और प्रेम करता। भक्ति आंदोलन ने इस मूर्तिपूजा को भावात्मक और सामाजिक अर्थों में नया स्वरूप दिया। यह पूजा केवल "देवता को प्रसन्न करने" तक सीमित न रहकर, आत्मा की पुकार और समर्पण का माध्यम बन गई। यही वह बिंदु था जहाँ भक्ति केवल आस्था नहीं रही, बल्कि जीवन का सक्रिय अंग बन गई।

निष्कर्ष

मध्यकालीन भारत में भक्ति परंपरा का उदय एक सामान्य धार्मिक क्रांति भर नहीं था, बल्कि यह भारतीय समाज के सांस्कृतिक ताने–बाने में एक अभूतपूर्व परिवर्तनकारी आंदोलन के रूप में उभरा। इस परंपरा का आधार न केवल ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण था, बल्कि यह सामाजिक विषमता, धार्मिक कट्टरता और सांस्कृतिक जड़ता के विरुद्ध जनमानस की एक आत्मस्फूर्त प्रतिक्रिया भी थी। भक्ति आंदोलन के उदय में जो सांस्कृतिक कारण निहित थे जैसे वर्णव्यवस्था की कठोरता, ब्राह्मणवादी कर्मकांडों की जटिलता, मुस्लिम शासन के कारण उपजे अस्मिता संकट और आमजन की आध्यात्मिक आकांक्षाएँकृवही कारण इस परंपरा को सामाजिक और सांस्कृतिक नवजागरण का रूप प्रदान करने वाले बने। भक्ति परंपरा ने न केवल धर्म की परिभाषा को सरल और व्यावहारिक बनाया, बल्कि आस्था के नाम पर प्रचलित शोषण और विभाजनकारी प्रवृत्तियों को भी चुनौती दी। इस परंपरा की सबसे विशेष बात यह रही कि यह आंदोलन शास्त्रों की संकीर्ण व्याख्याओं की बजाय अनुभवजन्य आध्यात्मिकता पर आधारित था। संतों, भक्तों और कवियों ने जब यह कहा कि ईश्वर हृदय में वास करता है, मंदिर या मस्जिद में नहीं, तो यह केवल धार्मिक वक्तव्य नहीं था, बल्कि वह सांस्कृतिक चेतना थी जो व्यक्ति को उसकी आत्मा और समाज से जोड़ती थी। कबीर, रविदास, दादू, तुलसी, सूर, मीराबाई, गुरु नानक जैसे संतों की वाणी ने समाज को एक ऐसी दिशा दी जो न केवल धर्म के नाम पर खड़ी की गई दीवारों को गिराती थी, बल्कि मानवता की साझा संस्कृति को भी मजबूत करती थी। इस प्रकार, भक्ति परंपरा एक सांस्कृतिक नवजागरण का जीवंत प्रमाण है। इसने धार्मिक दृष्टिकोण को मानवीय दृष्टिकोण से जोड़ा, समाज को नैतिकता और समानता के सूत्र में बाँधा, स्त्रियों और वंचितों को स्वर प्रदान किया, और भारतीय समाज को आत्मचिंतन और आत्मविकास की दिशा दी। यह परंपरा आज भी भारतीय लोक चेतना में जीवित है, और उसकी प्रभावशीलता यह है कि आधुनिक युग में भी जब समाज सांस्कृतिक विखंडन, धार्मिक असहिष्णुता और सामाजिक अलगाव का सामना कर रहा है, तब भक्ति परंपरा की वाणी हमें समरसता, करुणा और एकत्व की प्रेरणा देती है।

Author's Declaration:

The views and contents expressed in this research article are solely those of the author(s). The publisher, editors, and reviewers shall not be held responsible for any errors, ethical misconduct, copyright infringement, defamation, or any legal consequences arising from the content. All legal and moral responsibilities lie solely with the author(s).

संदर्भ सूची–

1. मुक्ति बोध, गजानन माधव. (2014). भारतः इतिहास और संस्कृति. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. मुले, गुणाकर. (2013). भारतः इतिहास और संस्कृति. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. श्रीवास्तव, राजीव कुमार. (2011). भारतीय समाज एवं संस्कृति. यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
4. जोशी, सुधाकर. (2016). कबीर और सल्तनतकालीन समाज. गार्गी प्रकाशन, जयपुर।
5. ओमप्रकाश. (1979). भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास. एस. चंद एंड कंपनी, नई दिल्ली।

6. गुप्त, आर. के. (2004). मध्यकालीन समाज, धर्म, कला और वास्तुकला. पोइंटर पब्लिशर्स, जयपुर।
7. श्रीवास्तव, नीरज. (2010). मध्यकालीन भारतः प्रशासन, समाज और संस्कृति. ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
8. तिवारी, यशवंत. (2021). भक्ति साहित्य और भारतीय समाज का निर्माण. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
9. पांडेय, शीतला प्रसाद. (2008). मध्यकालीन संत साहित्य और समाज. सरस्वती पब्लिकेशन, दिल्ली।
10. पांडेय, मिथिला शरण. (2000). प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास. स्वामी प्रकाशन, जयपुर।
11. जैन, पी. सी. (2003). सामाजिक आंदोलन का समाजशास्त्र. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर।
12. शुक्ल, रामनारायण. (2010). भक्ति काव्यः सामाजिक परिप्रेक्ष्य में. हिंदी साहित्य परिषद, भोपाल।
13. सिंह, महेश विक्रम. (2007). भक्ति और सूफी आंदोलन. बृजबासी आर्ट प्रेस, नई दिल्ली।

Cite this Article-

'शालीनी कुमारी, 'भक्ति परंपरा के उदयः सांस्कृतिक कारण', *Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal (RVIMJ), ISSN: 3048-7331 (Online), Volume:2, Issue:06, June 2025.*

Journal URL- https://www.researchvidyapith.com/
DOI- 10.70650/rvimj.2025v2i60009
Published Date- 06 June 2025